

Sincerity

(Words of Sri Aurobindo & The Mother)



Sincerity in the vital

Sincerity is the key of the divine doors.

The Mother

Be perfectly sincere and no victory will be denied to you.

The Mother

आध्यात्मिक जीवन की तैयारी करने के लिये किस मौलिक गुण का विकास करना चाहिए ?

• इसे मैंने बहुत बार बतलाया है, परंतु यह उसे दुहराने का एक सुअवसर है। वह है सच्चाई।

एक ऐसी सच्चाई जो पूर्ण और पक्की बन जानी चाहिये, क्योंकि आध्यात्मिक पथ में एकमात्र सच्चाई ही तुम्हारी संरक्षिका है। यदि तुम सच्चे नहीं हो तो निश्चित रूप से अगले ही पग पर गिरकर अपना सिर फोड़ लोगे। सभी प्रकार की शक्तियाँ, संकल्प, प्रभाव, सत्ताएँ उपस्थित रहती और इस ताक में रहती हैं कि उस सच्चाई के अंदर अत्यंत छोटी-सी भी दरार हो जाय, और वे तुरंत उस छिद्र के रास्ते भीतर घुस आती हैं तथा तुम्हें अस्त-व्यस्त अवस्था में फेंकना शुरू कर देती हैं।

फलस्वरूप, कोई भी चीज करने, कोई भी चीज आरम्भ करने, कोई भी चीज करने की कोशिश करने से पहले, सबसे पहले इस विषय में निस्संदिग्ध हो जाओ कि तुम केवल उतने ही सच्चे नहीं हो जितने कि तुम हो सकते हो, बल्कि उससे भी अधिक बनने की इच्छा रखते हो।

कारण, बस वही तुम्हारा संरक्षण है।

* * *

पूर्ण सच्चाई

मूलतः, व्यक्ति किसी भी मार्ग का अनुसरण करे — चाहे वह मार्ग समर्पण हो या आत्मदान अथवा ज्ञान का — व्यक्ति यदि इसे पूर्ण बनाना चाहता है तो यह सदा एक-सा कठित होता है और इसकी विधि एक ही है, केवल एक, मैं तो एक ही जानती हूँ : वह है पूर्ण सच्चाई, लेकिन सच्चाई पूर्ण हो!

क्यों तुम्हें पता है कि पूर्ण सच्चाई किसे कहते हैं?

अपने-आपको कभी धोखा देने की कोशिश न करो, सत्ता का कोई भी भाग दूसरों को विश्वास दिलाने का उपाय ढूँढने की कोशिश न करे। जो कुछ तुम करना चाहते हो उसे करने के लिये बहाने ढूँढने की खातिर चिकनी-चुपड़ी बातें मत करो, कोई वस्तु यदि तुम्हें अच्छी न लगती हो, तो उसकी तरफ से आँखे मत मूँद लो, किसी वस्तु को अपने सामने से यह कहते हुए मत गुज़रने दो : "इसका कुछ महत्त्व नहीं, अगली बार ज्यादा अच्छा होगा।"

ओह! यह सब अत्यधिक कठिन है। घंटे-भर के लिये ऐसा करने की कोशिश करो तो तुम देखोगे कि यह कितना कठिन है! केवल एक घंटा पूर्णतः, निरपेक्ष भाव से निष्कपट बने रहो, कुछ भी छुटे नहीं। अर्थात्, जो भी करो, जो कुछ भी अनुभव करो, जो कुछ भी सोचो, जो कुछ भी चाहो, सब अनन्य भाव से भगवान् ही हों।

"मैं भगवान् के सिवाय कुछ नहीं चाहता, मैं भगवान् के सिवाय अन्य किसी वस्तु के संबंध में नहीं सोचता, मैं केवल वही करता हूँ जो मुझे भगवान् की ओर ले जाता है, मैं भगवान् के सिवाय और किसी वस्तु से प्रेम नहीं करता।"

कोशिश करो – कोशिश करो और देखो, केवल आधे घण्टे के लिये ही, और तुम देखोगे कि यह कितना कठिन है! और उस समय इस बात का ध्यान रखो कि वहाँ मन, प्राण या भौतिक सत्ता का कोई भी भाग आराम से छुपा तो नहीं पड़ा है, पीठ-पीछे, ताकि तुम उसे देख न सको (मां अपने हाथ पीठ-पीछे छिपा लेती हैं), और यह न जान सको कि वह कार्य में सहयोग नहीं दे रहा – वह वहाँ चुपचाप बैठा है ताकि तुम उसे बाहर न ला सको वह कुछ कहता नहीं, पर बदलता भी नहीं, छुपा पड़ा रहता है। ऐसे कितने भाग! कितने ही भाग अपने-आपको छिपाये रहते हैं! तुम उन्हें अपनी जेब में डाल लेते हो, क्योंकि तुम उन्हें देखना नहीं चाहते, अथवा वे तुम्हारी पीठ के पीछे ठीक बीचों-बीच पड़े रहते हैं, ताकि दिखायी न दें।

जब तुम वहाँ अपनी टार्च के साथ – सच्चाई की टार्च के साथ – जाते हो और सब कोनों, छोटे-छोटे कोनों में भी ढूँढते हो तो जो कोने इस बात से सहमत नहीं होते, जो वस्तुएँ “न” कहती हैं अथवा अपनी जगह से हिलना-डूलना नहीं चाहती, वे कहती हैं : “मैं नहीं हिलूँगी”, मैं अपनी जगह से चिपकी रहूँगी, कुछ भी मुझे टस-से-मस नहीं कर सकता।” तुम्हारे पास एक टार्च होती है, और तुम उस चीज पर, उन सब पर प्रकाश फेंकते हो। तुम देखोगे कि वहाँ ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं, पीठ के पीछे अच्छी तरह चिपकी हुई।

कोशिश करो, केवल एक घण्टे के लिये, कोशिश करो!

* * *

सच्चाई

“क्या मानव-प्राणी के लिये पूर्ण रूप में सच्चा होना संभव है?”

और यह प्रश्न आगे चलता है :

“क्या कोई मानसिक सच्चाई, कोई प्राणिक सच्चाई, कोई भौतिक सच्चाई है? इन सच्चाइयों में क्या भेद है?”

स्वभावतः ही, सच्चाई का तत्त्व सर्वत्र एक ही है, पर सत्ता की अवस्थाओं के अनुसार उसकी क्रिया अलग-अलग है। पहले प्रश्न का जहाँ तक संबंध है, हम केवल यह उत्तर दे सकते हैं : नहीं, कदापि नहीं, यदि मनुष्य वहीं बना रहा हो जो वह है। परंतु उसमें पूर्णतः सच्चा होने के लिये अपने-आपको पर्याप्त मात्रा में रूपांतरित करने की संभावना है।

सर्वप्रथम यह कहा जा सकता है कि सच्चाई या सत्यनिष्ठा प्रगतिशील है, और जैसे-जैसे सत्ता प्रगति करती और विकसित होती है, जैसे-जैसे विश्व अभिव्यक्ति के अंदर उद्घाटित होता है, वैसे-वैसे सत्यनिष्ठा को भी अंतहीन रूप में

पूर्ण बनाते जाना चाहिए। इस विकास-क्रम का प्रत्येक पड़ाव आवश्यक रूप से बीते कल की सच्चाई को भावी कल की अ-सच्चाई या कपट में परिणत कर देता है।

पूणतः सच्चा होने के लिये यह आवश्यक है कि कोई पसंदगी, कोई कामना, कोई आकर्षण, कोई नापसंदगी, कोई सहानुभूति या विद्वेष, कोई आसक्ति, कोई विकर्षण न हो। हमें वस्तुओं का एक पूर्ण, सर्वांगीण अंतर्दर्शन प्राप्त हो, जिसमें प्रत्येक वस्तु अपने स्थान पर हो और सभी वस्तुओं के प्रति हमारा एक ही मनोभाव : सत्य दर्शन का मनोभाव हो। यह कार्यक्रम किसी मनुष्य के लिये पूरा करना स्पष्ट ही बहुत कठिन है। जब तक वह अपने को दिव्य रूप में रूपांतरित करने का निश्चय नहीं कर लेता, उसका अपने अंदर की इन सभी विपरीत वस्तुओं से मुक्त होना लगभग असंभव प्रतीत होता है। और फिर भी, जब तक वह अपने अंदर उन्हें वहन करता है, वह पूर्ण रूप से सत्यनिष्ठ नहीं हो सकता। अपने-आप ही मानसिक, प्राणिक और यहाँ तक कि भौतिक क्रियावली मिथ्या बन जाती है। मैं भौतिक पर जोर दे रही हूँ, क्योंकि इन्द्रियों की क्रिया भी दोषपूर्ण हो जाती है : जब तक मनुष्य में कोई पसंदगी होती है, वह वस्तुओं को उनके सत्य रूप में नहीं देखता, नहीं सुनता, नहीं चखता, नहीं अनुभव करता। जब तक ऐसी चीजें हैं जो तुम्हें अच्छी लगती हैं और ऐसी चीजे हैं जो अच्छी नहीं लगतीं, जब तक तुम किन्हीं विशेष वस्तुओं से आकर्षित होते और दूसरी वस्तुओं से विकर्षण अनुभव करते हो, तुम वस्तुओं को उनके सत्य-स्वरूप में नहीं देख सकते; तुम उन्हें अपनी प्रतिक्रियाओं, अपनी पसंदगी या नापसंदगी में से देखते हो। इंद्रियाँ माध्यम हैं जो अव्यवस्थित हो जाती हैं, ठीक जिस तरह संवेदनाएँ, हृद्गत भावनाएँ और विचार हो जाते हैं। परिणामस्वरूप तुम जो कुछ देखते, जो कुछ स्पर्श करते, जो कुछ अनुभव करते और सोचते हो उसके बारे में निस्संदिग्ध होने के लिये तुम्हारे अंदर एक प्रकार की पूर्ण अनासक्ति होनी चाहिये; और यह, बहुत स्पष्ट रूप में, कोई आसान काम नहीं है। परन्तु उस क्षण तक तुम्हारा ज्ञान पूरी तरह सही नहीं हो सकता और इस कारण वह सच्चा नहीं है।

स्वभावतः ही, यह है सर्वोच्च अवस्था। परंतु कुछ स्थूल अ-सच्चाईयाँ या कपट भी है जिन्हें प्रत्येक व्यक्ति समझता है और जिन पर, मैं समझती हूँ, जोर देना जरूरी नहीं है। उदाहरणार्थ, कहना एक बात और सोचना दूसरी बात, एक काम करने का दिखावा करना और सचमुच में करना दूसरा, एक ऐसी इच्छा प्रकट करना जो तुम्हारी सच्ची इच्छा नहीं है। मैं बिलकुल भयंकर झूठों की, तथ्य से भिन्न किसी दूसरी बात को कहने की चर्चा नहीं करती, बल्कि कार्य करने की कूटनैतिक विधि, कार्य के द्वारा कोई चीज सिद्ध करने की भावना के साथ कार्य करना, कोई बात कहना और उससे कोई विशेष प्रभाव की आशा करना, इस प्रकार का प्रत्येक मिश्रण जो स्वाभाविक रूप में तुमसे स्वयं अपना ही खंडन कराता है वह सब भी एक प्रकार का काफी स्थूल कपट है जिसे हर एक आसानी से पहचानता है।

परंतु कुछ दूसरे अधिक सूक्ष्म कपट हैं और उन्हें पहचानना अधिक कठिन है। जैसे, तुम्हारे अंदर जब तक सहानुभूतियाँ और विद्वेष-भावनाएँ हैं, बिलकुल स्वाभाविक रूप में तथा मानों स्वतः स्फूर्त रूप में, अपनी अनुकूल चीज के विषय में तो तुम्हारा अनुकूल मत होगा, और अपनी नापसंद चीज के विषय में प्रतिकूल। और ऐसी स्थिति में भी सच्चाई का अभाव खूब स्पष्ट होगा। परंतु हो सकता है कि तुम अपने को धोखा दो और यह न देख सको कि तुम झूठे हो। तब उस स्थिति में मानों तुम्हें मानसिक कपट का सहयोग प्राप्त होता है। कारण, यह सच है कि सत्ता की या सत्ता के अंगों की अवस्था के अनुसार थोड़े-से भिन्न-भिन्न प्रकार के कपट हैं। केवल इन कपटों का मूल स्रोत सर्वदा एक ही क्रिया होती है जो कामना तथा व्यक्तिगत प्रयोजनों की प्राप्ति की चेष्टा से – अहंभाव से, अहंभाव से उत्पन्न सभी सीमाओं एवं कामना से उत्पन्न सभी विकृतियों के सम्मिश्रण से उत्पन्न होती है।

वास्तव में, जब तक अहं है, कोई यह नहीं कह सकता कि कोई प्राणी पूर्णतः सच्चा है, यद्यपि वह वैसा बनने का प्रयास करता है। हमें अहं से परे जाना होगा, अपने-आपको संपूर्ण रूप में भागवत 'संकल्प' के हाथों में दे देना, बिना कुछ बचाये और बिना हिसाब लगाये समर्पण कर देना होगा तब हम पूर्णतः सत्यनिष्ठ हो सकते हैं, पर उससे पहले नहीं।

इसका यह अर्थ नहीं है कि हम जितने सच्चे हैं, उससे अधिक सच्चे बनने के लिये कोई प्रयास न करें और मन—ही—मन यह कहें : “अच्छा, सच्चा बनने के लिये मैं अपने अहं के विलीन होने की प्रतीक्षा करूँगा”, क्योंकि हम शब्दों को उलटकर यह कह सकते हैं कि यदि तुम सच्चाई के साथ प्रयत्न न करो तो तुम्हारा अहं कभी विलीन नहीं होगा। अतः, सच्चाई सभी सच्ची सिद्धियों का आधार है, वह साधन है, पथ है — और यह लक्ष्य भी है। इसके बिना तुम निश्चय ही अनगिनत बड़ी भूलें करोगे और तुम्हें निरंतर उस हानि का प्रतिकार करते रहना होगा जो तुमने अपने प्रति और दूसरों के प्रति की है।

इसके अलावा, सत्यनिष्ठ होने में एक अद्भूत आनंद है। सत्यनिष्ठता का प्रत्येक कार्य अपने-आप में अपना प्रतिदान ले आता है : पवित्रता की, ऊपर की ओर उड़ान भरने की, उस मुक्ति की भावना ले आता है जिसे मनुष्य तब पाता है जब वह मिथ्यात्व के एक छोटे-से कण को भी त्याग देता है।

सत्यनिष्ठा ही रक्षोपाय है, संरक्षण है, यही पथ—प्रदर्शक है, और अंत में रूपांतरकारिणी शक्ति है।

..... यह संभव है कि पूर्ण सत्यनिष्ठा तब तक न आ सके जब तक हम इस मिथ्यात्व भरे जीवन के, जैसा कि हम इसे धरा पर जानते हैं, यहाँ तक कि उच्चतर मानसिक जीवन के भी, क्षेत्र से ऊपर न उठ जायें।

जब व्यक्ति उच्चतर क्षेत्र में, 'सत्य' की दुनिया में उठ आयेगा, तब वह सचमुच वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप में देख सकेगा, और उन्हें यथार्थ रूप में देखकर उनके वास्तविक सत्य में जी सकेगा। तब स्वभावतया सभी मिथ्यात्व ढह जाएँगे। अपने अनुकूल सफाइयां देने का कोई प्रयोजन नहीं रह जायगा, वे लुप्त हो जाएँगी क्योंकि सफाई देने को कुछ रह ही नहीं जायगा।

वस्तुएं स्वयं-सिद्ध होंगी, 'सत्य' सब रूपों में चमकेगा, भ्रंति की संभावना लुप्त हो जायेगी।

* * * * *

मनोवैज्ञानिक पूर्णता

किसी ने मुझसे पूछा, यह “मनोवैज्ञानिक पूर्णता” क्या चीज है, चंपा फूल जिसका प्रतीक है। मनोवैज्ञानिक पूर्णता एक नहीं, इस फूल की पंखुड़ियों की तरह पाँच हैं। हमने कहा है कि वे पाँच हैं – सच्चाई, श्रद्धा, भक्ति, अभीप्सा और समर्पण। लेकिन वास्तव में जब-जब मैं यह फूल देती हूँ तब-तब हमेशा वही मनोवैज्ञानिक पूर्णताएँ नहीं होतीं। यह बहुत ही तरल चीज होती है जो परिस्थितियों और लोगों की आवश्यकता पर निर्भर होती है।

बहरहाल पाँचों में पहली जो हमेशा हर संयोग में होती है वह है सच्चाई या निष्कपटता। अगर सच्चाई न हो तो आदमी आगे नहीं बढ़ सकता, आधा कदम भी नहीं

लेकिन इसे एक और शब्द द्वारा भी अनूदित किया जा सकता है, वह है पारदर्शकता। मैं जरा समझाती चलूँ। जब मैं किसी व्यक्ति के सामने होती हूँ तो मैं उसकी आँखों में देखती हूँ। अगर व्यक्ति सच्चा है, पारदर्शक है तो मैं आँखों द्वारा उसके अंदर गहराई में चली जाती हूँ, मैं उसकी आत्मा को स्पष्ट रूप से देखती हूँ। लेकिन साधारणतः यही अनुभूति होती है – कभी-कभी ऐसा होता है कि मैं एक बादल देखती हूँ, मैं आगे बढ़ती हूँ और एक परदा दिखायी देता है, मैं और चलती जाती हूँ और कभी-कभी एक दीवार देखती हूँ, फिर उसके बाद कोई चीज एकदम से काली होती है। तुम्हें उस सबमें से गुजरना होता है, उसमें प्रवेश करने के लिये छेद करने पड़ते हैं और उसके बाद भी यह निश्चित नहीं है कि अंतिम क्षण में तुम अपने-आपको काँसे के दरवाजे के आगे नहीं पाओगे जो इतना मोटा होगा कि तुम कभी उसको पार न कर पाओगे और उस आदमी की आत्मा को देखना असंभव होगा। उस स्थिति में मैं झट यह कह सकती हूँ कि यह आदमी सच्चा नहीं है, मैं जरा साहित्यिक ढंग से यह भी कह सकती हूँ कि वह पारदर्शक नहीं है। तो यह पहली चीज है।

* * *

मधुर मां, “मानसिक ईमानदारी” का ठीक-ठीक अर्थ क्या है?

यह ऐसा मन है जो अपने-आपको धोखा देने की चेष्टा नहीं करता। वास्तव में, “चेष्टा” की बात ही नहीं उठती क्योंकि वह ऐसा करने में खूब सफल रहता है!

ऐसा लगता है कि मनुष्य के सामान्य मनोवैज्ञानिक गठन में, मन का निरंतर कार्य होता है कामनामय पुरुष में, प्राण में, मन के सर्वाधिक भौतिक भागों में एवं शरीर के सूक्ष्मतम भागों में जो कुछ होता है उसकी सफाई देना। हमारी गलतियों, और अवांछनीय क्रियाओं द्वारा छोड़ी दुःखद छापों से यथासंभव बचने के लिये जो कुछ हम करते हैं उसकी सफाई देने में, यहाँ तक कि उसे सुविधाजनक ढंग से उचित ठहराने में प्रायः सत्ता के सभी भागों की साझेदारी-सी होती है। उदाहरणार्थ, यदि किसी ने विशेष प्रशिक्षण ही न पाया हो और इस पर खूब श्रम ही न किया हो तो, मनुष्य जो कुछ करता है मन अपने-आपको उसकी काफी अनुकूल सफाई ले लेता है ताकि उससे कोई तकलीफ न हो। यह तो बाहरी प्रतिक्रियाओं या परिस्थितियों या दूसरों से आये स्पंदनों के दबाव के कारण वह धीरे-धीरे कम अनुकूल दृष्टि से देखने को सहमत होता है कि वह क्या है और क्या करता है और अपने से पूछना शुरू करता है कि चीजें जैसी हैं उससे अच्छी नहीं हो सकती।

स्वाभाविक रूप से, पहली प्रतिक्रिया होती है आत्म-रक्षा की। मनुष्य चौकस रहने लगता है और बहुत स्वाभाविक ढंग से, . . . छोटी-से-छोटी बातों के लिये, बिलकुल नगण्य-सी बातों के लिये औचित्य ढूँढता है – जीवन में यह साधारण मनोभाव है।

और व्यक्ति अपने-आपको कैफियत देता है; केवल परिस्थितियों के दबाव से ही दूसरों को या किसी और व्यक्ति को सफाई देना शुरू करता है। पहले तो वह अपने-आपको तसल्ली देता है; पहली बात: “यह ऐसा हुआ क्योंकि इसे ऐसा ही होना था, यह इसके कारण ऐसा हुआ, और ...”, बस दोष हमेशा परिस्थितियों का या दूसरों का होता है। सचमुच प्रयास की जरूरत होती है – जैसा कि मैंने कहा है, जब तक किसी ने अनुशासन का पालन न किया हो, मनुष्य को यत्रंवत् ऐसा

करने की आदत होती है — यह समझना शुरू करने के लिये कि शायद चीजें वैसे नहीं हैं, एक प्रयास की जरूरत पड़ती है! और इसके लिये भी कि शायद जो करना चाहिये था ठीक वैसे ही नहीं किया गया, जैसी चाहिये थी वैसी प्रतिक्रिया नहीं हुई। और जब कोई देखना शुरू कर भी देता है तब उसे सार्वजनिक रूप से मानने के लिये तो और भी बड़े प्रयास की जरूरत पड़ती है।

जब कोई देखने लगता है कि उसने गलती की है तो मन की पहली चेष्टा होती है उसे पीछे फेंक कर सामने परदा डालने की, बहुत सूक्ष्म छोटी-सी सफाई का परदा, और जब तक वह दिखाने को विवश ही न हो जाय वह उसे छिपाता रहता है। यही है वह चीज जिसे मैं “मानसिक ईमानदारी का अभाव” कहती हूँ।

पहले तो मनुष्य अभ्यासवश अपने-आपको धोखा देता है, लेकिन तब भी, जब वह अपने को धोखा न देना शुरू करता है, सुख से रहने के लिये सहजवृत्तिवश उसकी चेष्टा होती है, अपने को धोखा देने की चेष्टा। अतः जब एक बार यह समझ में आ जाय कि मैं अपने को धोखा दे रहा था तो उसे निश्छल-भाव से यह स्वीकारने के लिये : “हाँ, मैं अपने को धोखा दे रहा था,” एक और भी बड़ा कदम उठाने की जरूरत होती है।

ये सब चीजें इतनी अभ्यासगत होती हैं, इस तरह से यंत्रवत् की जाती हैं कि मनुष्य को इसका भान तक नहीं होता; लेकिन जब तुम अपने को अनुशासित करने की इच्छा करने लगते हो तो सचमुच तुम बहुत बड़ी विस्मयकारी रोचक खोज करते हो। जब तुम यह खोज लेते हो तो तुम जान जाते हो कि तुम निरंतर एक ... स्थिति में निवास कर रहे हो, सबसे अच्छा शब्द होगा “आत्म-वंचना”, एक स्वेच्छाकृत वंचना की स्थिति; अर्थात्, नैसर्गिक रूप से तुम अपने-आपको धोखा देते हो। यह बात नहीं है कि इसके लिए तुम्हें सोचने की जरूरत पड़ती है : बड़े सहज ढंग से तुम अपने किये पर परदा डाल देते हो ताकि वह यथार्थ रंगों में न दीखे ... और यह सब उन चीजों के लिये होता है कि जो बिलकुल तुच्छ और महत्त्वहीन-सी होती है! क्या तुम नहीं देखते, कि यह बात तो समझ में आती है कि यदि अपनी

गलती स्वीकार करने से किसी के जीवन तक के लिये गंभीर परिणाम उठ खड़े हों तो आत्म-रक्षा की सहजवृत्ति बचाव के लिये उससे यह करा ले, लेकिन यहाँ वह बात नहीं है, यह तो उन चीजों के लिये है जो बिलकुल महत्त्वहीन हैं, जिनका कुछ भी परिणाम नहीं निकलता, सिर्फ इतना ही होता है कि तुम्हें अपने-आपसे कहना पड़े : "मैं अपने को छल रहा था।"

इसका मतलब यह हुआ कि मानसिक रूप से सच्चा या निष्कपट बनने के लिये प्रयास आवश्यक है। इसके लिये आवश्यकता है प्रयास की, अनुशासन की। स्वभावतः, मैं उन लोगों की बात नहीं कर रही जो इसलिये झूठ बोलते हैं कि वे पकड़े न जायं, क्योंकि, यह तो सभी जानते हैं कि ऐसा नहीं करना चाहिये। इसके अतिरिक्त, सर्वाधिक मूर्खतापूर्ण झूठ सर्वाधिक निरर्थक होते हैं क्योंकि वे इतने सुस्पष्ट होते हैं कि उनसे कोई भी धोखा नहीं खा सकता। ऐसे उदाहरण हमें निरंतर मिलते हैं; तुम किसी को गलती करते हुए पकड़ो और उसे कहो : 'यह ऐसे है'; वह मूर्खता भरी सफाई देगा जिसे कोई नहीं समझ सकता, कोई नहीं मान सकता, यह बेतुकी होती है लेकिन अपने को बचाने की आशा से यह की जाती है। यह अनायास होता है, है न? लेकिन यह जानी हुई बात है कि ऐसा नहीं किया जाता। पर एक दूसरी तरह का धोखा तो और भी अधिक सहज है और इसकी इतनी आदत होती है कि पता भी नहीं चलता। अतः जब हम मानसिक ईमानदारी की बात कहते हैं तो हम उसके बारे में कहते हैं जो सतत् और अध्यवसायी प्रयास से प्राप्त की जाती है।

तुम अपने-आपको पकड़ते हो, है न? अचानक पकड़ते हो, अपने सिर में कहीं या फिर यहाँ (श्रीमां हृदय की ओर संकेत करती हैं), जो और भी गंभीर है — अपने-आपको छोटी-सी बड़ी मन-पसंद सफाई देते हुए पकड़ लेते हो। और तभी जब तुम अपने को पकड़ में ले लेते हो, कसकर जकड़े रहते हो और अपने-आपको आमने-सामने साफ-साफ देखते हुए कहते हो : "क्या तुम सोचते हो कि यह ऐसा

है?" और, यदि तुम बहुत साहसी हो "हाँ, मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि यह वैसा नहीं है!"

कभी-कभी इसमें बरसों लग जाते हैं। स्पष्टतया और पूर्णतया यह देखने के लिये कि व्यक्ति अपने-आपको कितना धोखा दे रहा था, और वह भी उस समय जब कि उसे विश्वास था कि वह सच्चा है, लंबा समय लगना जरूरी है, उसे अपने भीतर बहुत कुछ बदलना जरूरी है, चीजों को देखने का दृष्टिकोण भिन्न होना जरूरी है, परिस्थितियों के सामने आने पर एक अलग अवस्था होनी जरूरी है, एक दूसरा संबंध जरूरी है।

* * *

"सवाल है सच्चाई का। अगर तुम सच्चे नहीं हो तो योग शुरू मत करो।"

सच्चाई शायद सब चीजों में सबसे कठिन है और शायद सबसे अधिक प्रभावशाली भी।

अगर तुम्हारे अंदर पूर्ण सच्चाई है तो तुम्हारी विजय निश्चित है। यह अत्यधिक कठिन है। सत्ता के सब तत्त्वों में, सारी गतिविधियों में (चाहे वे भीतरी हों या बाहरी), सत्ता के सब भागों में यह एकमात्र संकल्प लाना है कि हमें केवल भगवान् का ही अंश होना है, भगवान् के लिये ही जीना है, भगवान् जो चाहते हैं उसी को चाहना है, भागवत संकल्प को ही अभिव्यक्त करना है, भगवान् के अतिरिक्त कोई और शक्ति स्रोत नहीं रखना है।

और तुम देखोगे कि ऐसा एक भी दिन नहीं, एक भी घंटा नहीं, एक भी क्षण नहीं जब तुम्हें अपनी सच्चाई को तीव्र बनाने की जरूरत न पड़े, सुधारना न पड़े – भगवान् को धोखा देने से एकदम इंकार। पहली बात है अपने-आपको धोखा न देना। व्यक्ति जानता है कि भगवान् को धोखा नहीं दिया जा सकता। असुरों में सबसे चतुर भी भगवान् को धोखा नहीं दे सकता। हम देखते हैं कि व्यक्ति बहुधा

अपने जीवन में, यह सब समझ लेने के बाद भी, एक ही दिन के दौरान में अपने-आपको धोखा देने की – सहज रूप से लगभग यंत्रवत् – कोशिश करता है। व्यक्ति जो कुछ करता है उसकी, अपने शब्दों की और अपनी क्रियाओं की हमेशा ही अनुकूल व्याख्या कर लेता है। पहले यही होता है। मैं यहाँ स्पष्ट देखने वाली चीजों की बात नहीं कर रही, जैसे लड़-झगड़ कर आदमी कहता है : “यह दूसरे का दोष है।” मैं दैनिक जीवन की छोटी-छोटी चीजों की बात कर रही हूँ।

मैं एक बच्चे को जानती हूँ जो एक दरवाजे से टकरा गया और फिर दरवाजे को एक अच्छी-सी लात जमायी। बात यही है। हमेशा गलती दूसरों की होती है, दूसरा ही भूलें करता है। बचपन की अवस्था पार कर लेने के बाद भी जब तुम्हारे अंदर तर्क-बुद्धि आ जाती है, तुम बहुत मूर्खतापूर्ण बहाने बनाते हो : “अगर उसने यह न किया होता तो मैं ऐसा न करता।” लेकिन बात इससे ठीक उल्टी होनी चाहिए!

मैं इसी को सच्चा या निष्कपट होना कहती हूँ। जब तुम किसी के साथ हो और निष्कपट हो, तो तुरंत तुम्हारी प्रतिक्रिया यही होनी चाहिये कि तुम ठीक चीज करो, भले तुम जिसके साथ हो वह ठीक चीज न भी करे। सबसे सामान्य उदाहरण ले लो : कोई नाराज होता है : उसे चोट पहुँचाने वाली बातें कहने की जगह तुम चुप रहते हो, स्थिर और शांत रहते हो। तुम्हें उसके गुस्से की छूत नहीं लगती। जरा अपनी ओर देखने से ही तुम्हें पता लग जायगा कि यह आसान है या नहीं। यह बिलकुल प्रारंभिक चीज है। यह जानने के लिये कि तुम सच्चे और निष्कपट हो या नहीं, बहुत ही छोटा आरंभ है। और मैं उन लोगों की बात नहीं कर रही जो हर छूत के, यहाँ तक कि भद्दे मजाकों के भी शिकार हो जाते हैं; मैं उनकी बात भी नहीं कर रही जो वही मूर्खता करते हैं जो दूसरे करते हैं।

मैं तुम्हें कहती हूँ : अगर तुम अपने-आपको तेज आँखों से देखो तो तुम अपनी सामान्य वृत्ति में निष्कपट होने की कोशिश करते हुए भी अपने अंदर सैकड़ों कपट और कुटिलताएँ देखोगे, तुम देखोगे कि यह कितना कठिन है।

मैं तुमसे कहती हूँ : अगर तुम अपनी सत्ता के सभी तत्त्वों में, अपने शरीर के कोषाणुओं तक में सच्चे और निष्कपट हो, अगर तुम्हारी सारी सत्ता समग्र रूप से भगवान् को चाहती है तो तुम्हारी विजय निश्चित है, लेकिन उससे जरा भी कम पर नहीं। मैं इसे सच्चा या निष्कपट होना कहती हूँ।

मैं ऐसी स्पष्ट देखने वाली चीजों की बात नहीं कर रही जैसे कोई अपने आवेगों और सनकों के अनुसार काम करे और कहे : "मैं अब अपना नहीं रहा, मैं पूरी तरह भगवान् का हूँ। भगवान् ही मेरे अंदर सब कुछ कर रहे हैं, वे ही मेरे अंदर क्रियाशील हैं।" यह तो अपने-आपने में काफी अनगढ़ चीज है। मैं ज्यादा सुसंस्कृत लोगों की बात कर रही हूँ जो जरा कुलीन होते हैं और अपनी इच्छाओं को छिपाने के लिये सुंदर-सा चोगा डाल लेते हैं।

एक दिन में कितनी चीजें, कितने विचार, कितने संवेदन, कितनी क्रियाएं शुद्ध रूप से भगवान् की ओर अभीप्सा में मुड़ी होती है? कितनी? मुझे लगता है कि सारे दिन में एक भी हो तो उसे सुनहरे अक्षरों में लिखा जा सकता है।

जब मैं कहती हूँ : "यदि तुम निष्कपट हो तो तुम्हारी विजय निश्चित है," तो मेरा मतलब सच्ची निष्कपटता से होता है, मेरा मतलब होता है कि तुम हमेशा सच्ची ज्वाला बने रहो जो आत्म-निवदेन के रूप में जलती रहती है। सच्ची निष्कपटता है केवल भगवान् के लिये और भगवान् के द्वारा जीने का तीव्र आनंद, और यह अनुभव कि उनके बिना किसी चीज का अस्तित्व नहीं है, उनके बिना जीवन का कोई अर्थ नहीं रहता, किसी चीज का कोई हेतु नहीं होता, किसी चीज का कोई मूल्य नहीं होता, किसी चीज में रस नहीं होता जब तक कि — उस सबके प्रति जिसे हम भगवान् कहते हैं, क्योंकि किसी-न-किसी शब्द का उपयोग तो करना ही होगा — यह पुकार, यह अभीप्सा, परम सत्य के प्रति उन्मीलन न हो। सारे विश्व के अस्तित्व का यही एकमात्र हेतु है। उसे अलग कर दो और सब कुछ गायब हो जायगा।

* * *

“... 'प्रतीत' होने की अपेक्षा 'होना' कहीं अधिक अच्छा है। यदि हमारी सच्चाई पूर्ण हो तो हमें अच्छा प्रतीत होने की आवश्यकता नहीं। और पूर्ण सच्चाई से हमारा तात्पर्य यह है कि हम अपने सभी विचारों, सभी हृद्गत भावों, सभी इंद्रिय-संवेदनों और सभी कर्मों में अपनी सत्ता के केंद्रीय सत्य के सिवा और कोई चीज अभिव्यक्त न करें।”

जब जब पूर्णतः सच्चे होते हो तो तुम अपनी सत्ता के उच्चतम आदर्श के साथ, अपनी सत्ता के सत्य के साथ समस्वर होकर जीवन बिताने का सतत प्रयत्न करते हो। प्रत्येक मूर्च्छा, तुम जो-जो कुछ सोचते हो, जो कुछ अनुभव करते हो और जो कुछ करते हो उस सबमें यथासंभव समग्र रूप में, यथासंभव पूर्ण रूप से, तुम अपने-आपको उच्चतम आदर्श के साथ अथवा, यदि उसके विषय में सचेतन हो तो, अपनी सत्ता के सत्य के साथ समस्वर बनाते हो — तब तुम यथार्थ सच्चाई को प्राप्त करते हो। और, यदि तुम वैसे हो, यदि तुम अपने आंतरिक सत्य के द्वारा परिचालित होकर कार्य करते हो, अर्थात् यदि तुम पूर्णतः सच्चे हो तो, चाहे सारा जगत् तुम्हारा विचार किसी भी ढंग से क्यों न करे, तुम्हारे लिये कोई फर्क नहीं पड़ता। पूर्ण सच्चाई की इस अवस्था में तुम्हें अच्छा प्रतीत होने की अथवा दूसरों के द्वारा समर्थित होने की कोई आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि जब तुम अपनी सत्य चेतना के साथ समस्वर होते हो तो तुम सबसे पहली चीज यह अनुभव करते हो कि तुम इस बात की परवा नहीं करते कि तुम कैसे दीखते हो। चाहे तुम ऐसे दीखो या वैसे, चाहे तुम उदासीन, तटस्थ, निर्लिप्त, गर्वित प्रतीत होओ, इस सबका कोई महत्त्व नहीं, बशर्ते कि, मैं इसे फिर दुहरा दूँ, तुम पूर्ण रूप से सच्चे होओ। अर्थात् तुम कभी यह न भूलो कि अपने आंतर, केंद्रीय सत्य को उपलब्ध करने के लिये ही जीते हो।

* * *

सच्चाई

आध्यात्मिक उपलब्धि के लिये अटल सच्चाई और निष्कपटता ही सबसे अधिक निश्चित मार्ग है।

स्वांग मत करो, हो।

वचन मत दो, करो।

सपने मत देखो, चरितार्थ करो।

* * *

पूरी तरह सच्चे बनो और कोई विजय तुम्हारे लिये दुर्लभ न होगी।

* * *

सच्चाई में विजय की निश्चिती है।

सच्चाई! सच्चाई! कितनी मधुर है तुम्हारी उपस्थिति की पवित्रता!

* * *

भगवान् हमेशा उनके साथी होते हैं जो उत्साही और सच्चे हैं।

* * *

पूर्ण सच्चाई की आवश्यकता है।

* * *

अपने सच्चे 'स्व' के प्रति पूरी तरह वफादार और सच्चे बनो।

भगवान् के प्रति अपने उत्सर्ग में किसी भी छल को अन्दर घुसने न दो।

* * *

सच्चे बनो और आवश्यक हो तो मैं तुम्हारी भूलें हजार बार ठीक करने के लिये भी तैयार हूँ।

* * *

अपने प्रति ईमानदार रहो – (आत्म प्रवंचना नहीं)।

भगवान् के प्रति सच्चे रहो – (समर्पण में सौदाबाजी नहीं)।

मानव जाति के साथ सीधे रहो – (दिखावा और पाखंड नहीं)।

* * *

यह देखना आसान है कि भूलें सत्ता में सच्चाई के अभाव के कारण होती हैं – इससे निकलने का एकमात्र उपाय है सच्चा होना। तुम्हें इस उद्देश्य के लिये संकल्प, शक्ति और ज्ञान दिये गये हैं।

* * *

पूर्ण सच्चाई के सबसे बड़े शत्रु हैं अभिरुचियाँ (चाहे मानसिक हों या प्राणिक हों या भौतिक) और पूर्वाधारित विचार। इन बाधाओं पर विजय पानी चाहिये।

* * *